

आत्मनः स्वरूप-विवेचन

□ श्री राजेन्द्र मुनि, साहित्य-रत्न

[श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री के शिष्य]

आज विज्ञान समस्त दृश्यमान और भौतिक अस्तित्वधारी पदार्थों को दो वर्गों में विभक्त कर अध्ययन करता है—एक सजीव है और दूसरा वर्ग निर्जीव है। भारतीय चिन्तनधारा में भी अनादि काल से इसी प्रकार का वर्गीकरण रहा है—चेतन और अचेतन। विज्ञान के सजीव और निर्जीव के लक्षणों का जो विवेचन किया गया है, उसका चेतन और अचेतन के साथ समीपता और सादृश्य का सम्बन्ध भी है, भारतीय दर्शनानुसार चेतन में ज्ञान, दर्शन, सुख, स्मृति, वीर्य आदि गुण पाये जाते हैं और अचेतन के गुण हैं—स्पर्श, रस, गन्ध वर्णोदि।

चेतन तत्त्व के रहस्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति मनुष्य में अति आरम्भ से ही रही है। व्यक्ति सामान्यतः यह नहीं समझ पाता है कि जब वह 'मैं' शब्द का प्रयोग करता है तो यह 'मैं' किसका प्रतिनिधि है? क्या मैं का अर्थ उच्चारणकर्ता के शरीर से है? व्यक्ति इतना तो समझ सकता है कि यह शरीर 'मैं' नहीं है, किन्तु फिर यह 'मैं' कौन है? यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। मानव की इस सहज जिज्ञासा प्रवृत्ति का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है। इस सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि यह चेतन तत्त्व है, जो मैं का प्रतीक बनाकर अभिव्यक्त होता रहता है। यह विश्व भी अनेक अद्भुतताओं का अनुपम समुच्चय है। यह धरती, यह समुद्र, ये विविध ऋतुक्रम, पुष्प, पल्लव, फल, लता, द्रुमादि का यह वनस्पतिक वैभव यह सब क्या है? किसने इन्हें रचा और कौन इसका संचालक है? ऐसे-ऐसे अनेक रहस्यात्मक प्रश्न मानव-मन में घुमड़ते रहे हैं। इस वैविध्ययुक्त जगत् का मूलतत्त्व सचेतन है अथवा अचेतन? सत् है अथवा असत्? इन प्रश्नों पर चिन्तन-मनन होता रहा। वेद-उपनिषदादि के दृष्टिकोण को समझा जाने लगा और विभिन्न चिन्तन-धाराओं के विचारकों दार्शनिकों ने इस परिप्रेक्ष्य में नव-नवीन उद्भावनाएँ भी कीं। परिणामतः कतिपय दृष्टिकोणों ने चिन्तन-क्षेत्र में स्थान पाया। सचेतन का मूलतत्त्व आत्मा ही है, जागतिक पदार्थों में आत्मा का एक विशिष्ट स्थान है और उसकी अन्य पदार्थों से भिन्न विशेषता यह है कि आत्मा अमर है, अनश्वर है, नित्य है। आत्मा के सूक्ष्म अस्तित्व का अनुभव व्यक्ति स्वयं अपने भीतर ही किया करता है। उपनिषदों में इस आत्मतत्त्व का विवेचन-विश्लेषण प्राप्त होता है। जैन दर्शन भी इस दिशा में सक्रिय रहा है। जैन दर्शन ने उपनिषदों के आत्मा के स्वरूप का अध्ययन कर स्वचिन्तन के आधार पर उसे पृथक् स्वरूप में स्वीकारा है। उपनिषदों में उल्लिखित आत्मा के स्वरूप को सामान्यतः जैन दर्शन स्वीकृति देते हुए भी सुख-दुःख के दृष्टिकोण से असहमत है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा निर्विकार है। सुख-दुःख की अनुभूति से वह परे है। यह तो शरीर है जो कभी सुखों का तो कभी दुःखों का अनुभव करता है। जैन दर्शन इससे भिन्न दृष्टिकोण रखता है। पंचाध्यायी के अनुसार जैन दर्शन के निष्कर्ष को इस प्रकार प्रस्तुत किया सकता है कि आत्मा का मूलगुण आनन्द है, किन्तु कर्म-संयोग के अनुरूप वह विकृत रूप में सुख-दुःखादि की अनुभूति करता है। एक और भी मौलिक अन्तर द्रष्टव्य है—उपनिषदों में आत्मा को परमात्मा का ही अंश स्वीकारा गया है। ब्रह्म का यह अंश अपने मूल से पृथक् होकर आत्मा रूप धारण

करता है और शरीर विनाश पर आत्मा का साक्षात्कार परमात्मा से होता है, परन्तु यह संयोग स्थायी नहीं होता है, यदि आत्मा ने मोक्ष प्राप्ति की योग्यता अर्जित नहीं की। ऐसी अवस्था में आत्मा अपने मूल (ब्रह्म) से पृथक् होकर पुनः देह धारण करती है, यह जन्म-मरण का चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा परमात्मा के साथ स्थायी मिलन की पात्रता अर्जित न करले। तब उसे ब्रह्म से पुनः पृथक् नहीं होना पड़ता है और यही मोक्ष है।

इस धारणा से भिन्न जैन दर्शन के अन्तर्गत आत्मा को ऐसी किसी परमसत्ता के अंश के रूप में नहीं माना गया है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है। जैन दर्शन वस्तुतः ऐसी किसी ईश्वर की कल्पना तक नहीं करता जो जगत्कर्ता हो, आत्मा का मूल हो। यह दर्शन तो व्यक्ति और आत्मा की सत्ता को ही सर्वोच्च स्थान देता है।

इन कतिपय तात्त्विक और महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टियों के होते हुए भी जैन दर्शन और उपनिषद् के आत्म-विषयक दृष्टिकोणों में समानताएँ भी कम दृष्टिगत नहीं होती। जैन दार्शनिक आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के उपनिषदीय निम्न स्वरूप को सर्वथा स्वीकार किया है कि—

आत्मा चेतन है जो न तो कभी जन्म लेती है और न ही कमी करती है। आत्मा अनादि और अनन्त है, अनश्वर है। जन्म-मरण रहित नित्य है, शाश्वत और पुरातन है।

आत्मा किसी के किसी कार्य की परिणाम नहीं है। साथ ही वह अभाव रूप से भावरूप में स्वयं भी नहीं आयी है।

आत्मा में कर्तृत्व शक्ति भी है और भोक्तृत्व शक्ति भी।

आत्मा अशब्द-अस्पर्श-अरूप-अरस-नित्य और अगन्ध है।

आत्मा महत्ता के तत्व से परे है और ध्रुव है।

आत्म-तत्त्व की प्राप्ति से मनुष्य मृत्यु से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न : आत्मा के अस्तित्व का ?

आत्मा होती है, आत्मा जैसी कोई वस्तु होती ही नहीं—ये दोनों ही विचार भारतीय चिन्तन-धाराओं में रहे हैं। प्रश्न है सत्यासत्य के विवेचन का। दोनों ही पक्ष अपने-अपने समर्थन में तर्कों का भी अभाव नहीं रखते,

किन्तु वास्तविकता तो कोई एक पक्ष ही रख सकता है। अन्य पक्ष आधारहीन सिद्ध होना ही चाहिए। इन दो पक्षों में से कौन-सा वस्तुतः सत्य है? भारतीय दर्शन की समस्त शाखा-प्रशाखाएँ आत्मतत्त्व के इर्द-गिर्द स्थित हैं, आत्मवादी और अनात्मवादी दोनों ही धाराओं में आत्मा का विस्तृत विवेचन है, चाहे वह स्वीकारात्मक हो या नकारात्मक स्वरूप का हो। आत्मा किसे कहा जाए—इस विषय में भी मत वैभिन्न्य है। कहीं इन्द्रिय को आत्मा कहा जाता है तो कहीं विवेकबुद्धि को और कहीं मन को, यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो शरीर को ही आत्मा कह दिया गया है। इसके विपरीत कहीं इन सबसे स्वतन्त्र अस्तित्व में आत्मा के स्वरूप को स्वीकार किया गया है। ये तो वे पक्ष हैं जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृति देते हैं, चाहे आत्मा को किसी भी स्वरूप में मानते हों किन्तु चार्वाक तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानता।

जब हम उन कारणों पर विचार करें कि आत्मा के अस्तित्व को नकारा क्यों जा रहा है तो हम उनके मूल में, आत्मा की इस आधारभूत विशेषता को पाते हैं, कि वह भौतिक रूप नहीं रखती। उसका सूक्ष्म और अमूर्त रूप है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि की अनुभूति का विषय नहीं। परिणामतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका कोई रंग रूप आकार-आकृति नहीं। अतः उसे नकारा जाता है। उसके अस्तित्व में अमान्यता का भाव होता है। प्रमाण द्वारा उसके होने को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्य प्रत्यक्ष अस्तित्वधारी पदार्थों की भाँति आत्मा



अपनी उपस्थिति का आभास नहीं कराती। इस आधार पर चार्वाक जैसे दार्शनिक आत्मा की सत्ता को यदि स्वीकृति नहीं देते, तो उस विचार में एक स्वाभाविकता की प्रतीति होती है, अद्वैत चिन्तन में भी किसी समय अनात्मवादी दृष्टिकोण रहा। यहाँ ध्यातव्य बिन्दु यही है कि चार्वाकादि चिन्तकों ने जो अस्वीकृति व्यक्त की है, वह आत्मा के भौतिक स्वरूप के प्रति ही है, प्रमाण के अभाव में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की अनुपस्थिति में केवल भौतिक अस्तित्व या मूर्त्त स्वरूप तो असिद्ध होता है। आत्मवादी चिन्तक भी आत्मा के ऐसे स्वरूप की स्वीकृति का आग्रह कहाँ रखते हैं? वे तो अमूर्त्त रूप को ही स्वीकार करते हैं। प्रमाण-पुष्टता के अभाव में अमूर्त्त आत्मा के अस्तित्व की अस्वीकृति औचित्यपूर्ण नहीं कही जा सकती। चार्वाक यदि यह कहकर वि—‘एतावानेव लोकोऽयं यावन्निन्द्रियगोचरः’ जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, केवल उसी का होना स्वीकार करते हैं तो वस्तुतः आत्मा के अमूर्त्त स्वरूप के होने में इससे कोई सन्देह नहीं उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि आत्मा की स्वीकृति तो अमूर्त्त, अदृश्य, अभौतिक रूप में ही की जाती है।

पंचाध्यायी में स्वसंवेदन के आधार पर आत्मा के अस्तित्व का औचित्य प्रतिपादित किया गया है, प्राणी अपने हित-अहित के परिप्रेक्ष्य में अन्य सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों के विषय में अनुभव करते हैं, वे अमुक परिस्थिति को सुखद अथवा दुःखद अनुभव करते हैं, अर्ग्यों के साथ राग-द्वेष का भी अनुभव करते हैं, यह अनुभव चेतन आत्मा का ही धर्म है। आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार फिर कैसे किया जा सकता है?

हम यह चिन्तन करते हैं कि आत्मा है या नहीं? जीव है या नहीं? अनात्मवादी चिन्तक भी इस विषय में चिन्तन करते हैं। यह मनन कौन कर रहा है? क्या शरीर की गतिविधियों में यह मनन आ जाता है? नहीं। यह स्वयं आत्मा का ही गुण-धर्म है। वह सशय भी स्वयं आत्मा में ही उत्पन्न होता है। जैसा कि पूर्व में संकेत किया गया है कुछ चिन्तक शरीर को ही आत्मा मानते हैं, इन्द्रियातीत किसी भी वस्तु को वे स्वीकार नहीं करते। आत्मा को भी नहीं। उनका प्रश्न रहा करता है कि यदि इन्द्रियों से परे और शरीर से पृथक आत्मा का अस्तित्व होता है तो फिर मृत्यूपरान्त आत्मा का क्या होता? किन्तु प्रमुखता तो इस बिन्दु की है कि यह गहन सोच-विचार शरीर के माध्यम से नहीं हो रहा है, शरीर के भीतर कोई चेतन तत्त्व है, जो अनुभव करता है, विवेक का आग्रह रखता है और वही चिन्तन-मनन करता है, यही चेतनतत्त्व—आत्मा है। तत्त्वार्थसूत्र में उल्लेख मिलता है कि चेतना और उपयोग आत्मा का ही स्वरूप है, शरीर का नहीं; संशय (चाहे वह आत्मा के अस्तित्व के विषय में ही क्यों न हो) आत्मा का ही विषय है, शरीर का नहीं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने में पर्याप्त है। यदि शरीर ही आत्मा है तो जब कोई आहत व्यक्ति कहता है कि मेरा हाथ टूट गया है, तो इसका अर्थ यह है कि “मैं” का यह हाथ है, यह “मैं” क्या है? कौन है? वस्तुतः यह शरीर से भिन्न कोई तत्त्व है और मैं का प्रयोगकर्ता और कोई नहीं आत्मा ही है। यदि शरीर से भिन्न यह आत्म-तत्त्व नहीं होता तो शरीर यह कैसे कहता कि ‘मेरा हाथ’ जो “मैं” है वह मैं कहने वाले के शरीर से पृथक है। भिन्न है—अवश्य ही है, किसी की मृत्यु पर शोक करते हुए कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति (क ख ग घ) बड़ा अच्छा था, भला था। शव तो अभी वहीं रखा है। इस शरीर के लिए जो विद्यमान है ‘था’ का प्रयोग कैसे हो सकता है? “था” जिसके लिए प्रयुक्त हुआ वह कोई ऐसा तत्त्व है जो कभी था किन्तु अब नहीं है। यह तत्त्व आत्मा है। क ख ग कहकर जिसकी प्रशंसा की जाती है, वह उस आत्मा की ही प्रशंसा है। आत्मा के लिए जब “था” और शरीर (शव) के लिए जब “है” का प्रयोग होता है तो इन दोनों की पृथक्ता तो स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। शरीर आत्मा नहीं है।

मनुष्य में ज्ञान है। इसी ज्ञान पर आधारित भाँति-भाँति के सोच-विचार, चिन्तन-मनन, हिताहित का भेद और विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं। यह ज्ञान आत्मा का गुण है, शरीर का नहीं। शरीर से यदि ये गतिविधियाँ व्यक्त होती हैं तो इसका अर्थ है कि ये गुण हम में हैं और गुण हैं तो गुण का धारक भी अवश्य है अर्थात् आत्मा है।

लाल रंग से हमारा शरीर आवृत है, किन्तु लाल रंग का आधार वस्त्र भी हमारे शरीर पर है। लाल रंग और वस्त्र को पृथक-पृथक नहीं देखा जा सकता, उसी प्रकार उपर्युक्त गुणों की विद्यमानता स्वयं ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर देती है, यह धारणा सर्वथा मिथ्या होगी कि यह ज्ञान शरीर का गुण है। ज्ञान स्वयं अमूर्त है। अतः वह मूर्त देह का भाग या गुण नहीं हो सकता। उसका सम्बन्ध तो अमूर्त आत्मा के साथ है। इस प्रकार यह मानना ही होगा कि आत्मा का अस्तित्व असन्दिग्ध है।

आत्मा का स्वरूप क्या है ?

यह प्रश्न क्योंकि अमूर्त आत्मा के लिए है—इसका उत्तर सहज ही नहीं दिया जा सकता। जो अमूर्त है उसके लक्षणादि का परिचय सुगम हो भी नहीं सकता। जैन चिन्तन इस दिशा में अत्यन्त सक्रिय रहा है और इस विलोडन के परिणामस्वरूप यह जटिलता कम हो गई है। जैन दर्शन ने आत्मा की स्वरूपगत व्याख्या को एक वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया है। जैन दृष्टि से आत्मा का प्रधान गुण चेतनता है। इस चैतन्य के कारण बोध या ज्ञान का व्यापार सम्भव हो पाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में आत्मा की इसी स्वरूपगत विशेषता का परिचय उपयोग शब्द द्वारा दिया गया है—उपयोगो लक्षणम्। स्पष्ट है कि इस सचेतनता के कारण ही आत्मा में उपयोग का लक्षण होता है। अचेतना के कारण जड़ पदार्थ उपयोगहीन रहते हैं। यहाँ उपयोग शब्द के शास्त्रीय और तकनीकी अर्थ को ही ग्रहण करना होगा। साधारण शब्दार्थ यहाँ अप्रासंगिक होगा। प्रस्तुत प्रसंग में उपयोग का आशय चेतना से ही है। इस चेतना के प्रधान धर्म के साथ आत्मा के कतिपय अन्य साधारण धर्म भी हैं। वे हैं—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सत्त्व, प्रमेयत्व आदि। जहाँ उपयोग का आशय चैतन्य से ग्रहण किया गया है, वहाँ उसका एक मोटा अर्थ है। यदि गहराई से देखा जाये तो चैतन्य के अन्तर्गत उपयोग के साथ-साथ सुख और वीर्य तत्त्व भी आ जाते हैं। उपयोग स्वयं भी दो भेदों में विभक्त होता है, ज्ञान और दर्शन। इस दृष्टि से आत्मा अनन्त चतुष्टय का स्वरूप रखती है—स द्विविधोऽन्त-चतुर्भेदः।

अनन्त चतुष्टय के अन्तर्गत इस प्रकार अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को स्थान दिया गया है। 'उपयोगो लक्षणम्' कहकर जहाँ उपयोग को ही आत्मा का स्वरूप बताया गया है, वहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन तो उपयोग के अन्तर्गत आ ही जाते हैं, शेष अनन्तवीर्य और अनन्तसुख भी इसी में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

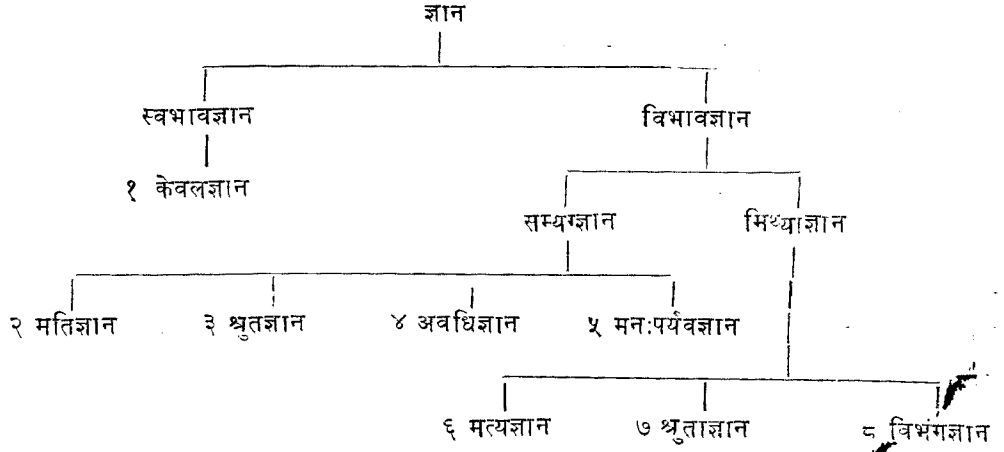
अनन्त चतुष्टय के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि यह अपने समग्ररूप में संसारी आत्मा में नहीं होता। इसे मुक्त आत्माओं की स्वरूपगत विशेषता ही माना जाना चाहिए। केवली अनन्त चतुष्टययुक्त आत्मा का स्वामी होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म का जब क्षय हो जाता है, तो प्रादुर्भाव होता है—अनन्त चतुष्टय का।

तात्पर्य यह है कि चार घातिक कर्मों के क्षय का परिणाम चेतनता के रूप में उदित होता है, जिसके दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। इन दोनों में समानता तो यह है कि ये दोनों ही चेतना के रूप हैं और अन्तर यह है कि ज्ञान साकार एवं दर्शन निराकार है। इसी प्रकार ज्ञान सविकल्प माना जाता है और दर्शन निर्विकल्प। निर्णयात्मक होने के कारण ज्ञान दर्शन से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व रखता है और इसी आधार पर इसे प्रथम स्थान दिया जाता है। तदनन्तर दर्शन को और यों उत्पत्ति की दृष्टि से निर्धारण किया जाये तो दर्शन को ज्ञान की अपेक्षा पहले ही स्थान मिलना चाहिए, उपयोग का आदि सोपान ही दर्शन है, इस प्रथम चरण दर्शन से केवल सत्ता का भान होता है और इसके पश्चात् जब विशेषग्राही रूप में उपयोग आता है, तब वह ज्ञान का रूप धारण करता है। उपयोग और चेतना का क्रमिक स्वरूप तो यही है, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से ज्ञान को अग्रगण्य स्वीकारा जाता है।

ज्ञानोपयोग

ज्ञानोपयोग के भेद पृष्ठ २१६ की तालिका में द्रष्टव्य हैं—





उपर्युक्त तालिका में ज्ञानोपयोग के भेदोपभेदों का निदर्शन हो जाता है। जैन दर्शन में ज्ञान के कुल ८ भेद स्वीकार किये गये हैं। प्रकाराधारित विभाजन की दृष्टि से विचार किया जाए तो ज्ञान मूलतः दो भेदों में विभक्त होता है—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। स्वभावज्ञान का कोई भेद नहीं होता और विभावज्ञान पुनः दो उपभेदों में विभक्त हो जाता है। इनमें से एक सम्यक् और दूसरा मिथ्या ज्ञान कहलाता है। सम्यक्ज्ञान ४ प्रकार का माना जाता है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्यवज्ञान और मिथ्याज्ञान के पुनः ३ भेद हो जाते हैं—मत्त्यज्ञान, श्रुताज्ञान तथा विभंगज्ञान।

स्वभावज्ञान—स्वभावज्ञान स्वतः पूर्ण और आत्मा का स्वानुभूत ज्ञान है, इसके लिए माध्यमस्वरूप इन्द्रियों तथा मन की आवश्यकता नहीं रहती। इसकी अर्जना आत्मा प्रत्यक्षतः स्वयं ही कर लेती है और यह उसका साक्षात् ज्ञान होता है। यही केवलज्ञान भी कहलाता है।

मतिज्ञान—विभावज्ञान के अन्तर्गत सम्यग्ज्ञान का यह पहला प्रकार है। विभावज्ञान में स्वभावज्ञान के विपरीत इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित रहती है। अतः यह असहाय न होकर सहाय-ज्ञान है। मतिज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय अथवा मन से होती है और इस ज्ञान का क्षेत्र जीव-अजीव के स्वरूप से सम्बन्ध रखता है।

श्रुतज्ञान—इसे आगम अथवा शब्दज्ञान भी कहा जाता है। श्रवण अथवा स्मरण इस ज्ञान का आधार होता है। आप्तवचन के पढ़ने, सुनने से ही श्रुतज्ञान की उपलब्धि होती है अथवा पूर्व में पढ़े, सुने गए आप्त वचनों के स्मरण से श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है।

अवधिज्ञान—अवधिज्ञान भी विभावज्ञान के अन्तर्गत सम्यग्ज्ञान का ही एक प्रकार है। रूपी अथवा मूर्त पदार्थों का (जो भौतिक अस्तित्वधारी हैं) ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। स्पष्ट है कि यह ज्ञान रूपी पदार्थों तक ही सीमित है और अरूपी पदार्थों के साथ परिचय स्थापित कराने की समर्थता इसमें नहीं हुआ करती।

मनःपर्यवज्ञान—मन की विभिन्न पर्यायों का प्रत्यक्ष ज्ञान ही मनःपर्यवज्ञान होता है। यह भी सम्यग्ज्ञान की श्रेणी में परिगणित विभावज्ञान है।

मत्त्यज्ञान—विभावज्ञान की द्वितीय श्रेणी मिथ्याज्ञान के अन्तर्गत प्रथम भेद मत्त्यज्ञान (मति अज्ञान) है। यह मतिविषयक मिथ्याज्ञान है। यह ऐसा मिथ्याज्ञान है जिसका सम्बन्ध जीव-अजीव से होता है और जिसकी उत्पत्ति इन्द्रिय अथवा मन से होती है।

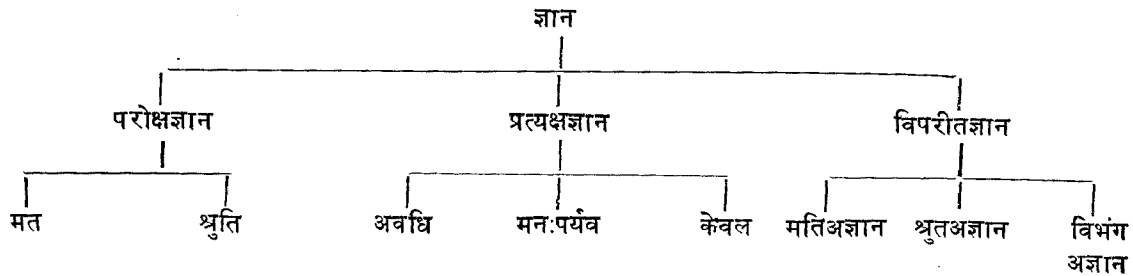
श्रुताज्ञान—श्रुताज्ञान भी मिथ्याज्ञान है। श्रुतविषयक मिथ्याज्ञान ही श्रुताज्ञान (श्रुत अज्ञान) होता है।

विभंगज्ञान—विभावज्ञानान्तर्गत मिथ्याज्ञान की श्रेणी का अन्तिम प्रकार है—विभंगज्ञान। विभंगज्ञान अवधिविषयक मिथ्याज्ञान होता है।

विभाव के इन दो भेदों—सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान के सम्बन्ध में यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व उस वस्तु या पदार्थ का नहीं होता जिसके विषय में ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है, अपितु यह मिथ्यात्व अथवा सम्यक्त्व तो स्वयं ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्नकर्ता की विशेषता हुआ करती है। अर्थात् इस भेद का आधार विषय नहीं अपितु ज्ञाता होता है। यदि ज्ञाता मिथ्या श्रद्धा रखता है तो उसके द्वारा लब्ध ज्ञान मिथ्या होगा। इसी प्रकार सम्यक् श्रद्धा वाला ज्ञाता जिस ज्ञान की अर्जना करता है वह सम्यग्ज्ञान की कोटि में आ जाता है। ज्ञाता की श्रद्धा के आधार पर ही ज्ञान के सम्यक् अथवा मिथ्या होने का निर्णय किया जाता है, पदार्थ के आधार पर नहीं।

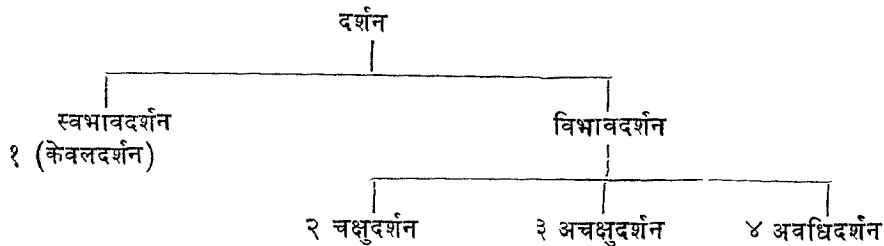
इसी आधार पर केवलज्ञान या पूर्णज्ञान (स्वभावज्ञान) के अतिरिक्त जितने अपूर्ण अथवा विभावज्ञान है, उनकी दो कोटियाँ की गयी हैं—मिथ्या एवं सम्यक्। जब ज्ञाता की आत्मा कर्मबद्ध होती है, तो आवरणयुक्त होने के कारण वह शुद्ध नहीं होती और केवलज्ञान अथवा पूर्णज्ञान की प्राप्ति का सामर्थ्य उसमें नहीं होता। ऐसी आत्मा (कर्मबद्ध) यदि मिथ्या श्रद्धावाली है तो उसे ३ प्रकार के मिथ्याज्ञानों का लाभ हो सकता है मत्त्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान; और जब उसकी आत्मा सम्यक् श्रद्धा से पूर्ण हो जाती है तो ये ही तीन मिथ्याज्ञान तीन सम्यक्ज्ञान हो जाते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान।

तत्त्वार्थसूत्र में भी ज्ञान के इन्हीं भेदों (८) को स्वीकार किया गया है, किन्तु वर्गीकरण तनिक भिन्नाधार लिए हुए है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रस्तुत वर्गीकरण निम्नानुसार है—



दर्शनोपयोग

दर्शनोपयोग के कुल ४ भेद किये जाते हैं। दर्शन के वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका द्वारा निर्देशित किया सकता है—



प्रस्तुत तालिका से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानोपयोग की भाँति दर्शनोपयोग भी आरम्भ में दो वर्गों में विभक्त हो जाता है—स्वभावदर्शन तथा विभावदर्शन। स्वभावदर्शन पूर्ण दर्शन है और इसका कोई उपभेद नहीं है। विभावदर्शन के ३ उपभेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधिदर्शन। इस प्रकार दर्शनोपयोग के कुल ४ भेद हो जाते हैं।



स्वभावदर्शन—जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का सहज और स्वाभाविक गुण होता है, उसी प्रकार दर्शन भी आत्मा का स्वाभाविक उपयोग है। स्वभावदर्शन पूर्ण और प्रत्यक्ष होता है इस कारण इसे केवलदर्शन भी कहा जाता है।

चक्षुदर्शन—यह नेत्रों के माध्यम से होने वाला ऐसा दर्शन है जो निर्विकल्प भी है और निराकार भी। स्पष्ट है कि इन्द्रिय सहायता इस दर्शन में विद्यमान रहती है, इसमें नेत्रों की प्रधानता होती है। अतः इसे चक्षुदर्शन कहा गया है।

अचक्षुदर्शन—विभावदर्शन के अन्तर्गत इस द्वितीय उपभेद में नेत्रों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित रहती है। इन इतर इन्द्रियों और मन से यह दर्शन सम्पन्न होता है।

अवधिदर्शन—अवधिदर्शन सीधा आत्मा से होने वाला दर्शन है और यह रूपी पदार्थों का होता है।

आत्मा के उपयोगेतर गुण

आचार्य देवसेन ने आत्मा के स्वरूप को गहनता के साथ विवेचित एवं विश्लेषित किया है। आलाप पद्धति में आचार्य देवसेन आत्मा के लक्षणों को निम्नानुसार प्रदर्शित किया—

ज्ञान	दर्शन	सुख	वीर्य	चेतनत्व	अमूर्तत्व
-------	-------	-----	-------	---------	-----------

उपर्युक्त प्रथम दो लक्षण आत्मा के उपयोग के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी रूप में इन दो लक्षणों को गिनाते हुए आचार्य नेमिचन्द्र आत्मा के लक्षणों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

उपयोगमयी	अमूर्तिक	कर्ता
स्वदेहपरिमाण	भोक्ता	ऊर्ध्वगमन
सिद्ध	संसारी	

आत्मा और उपयोग (अर्थात् ज्ञान एवं दर्शन) का अविच्छिन्न सम्बन्ध तो सभी विचारकों द्वारा स्वीकृत हुआ है, यहाँ तक वर्णित किया गया है कि जहाँ उपयोग है। वहाँ जीवत्व है, आत्मा चाहे संसारी हो अथवा सिद्ध, उपयोग का लक्षण तो उससे प्रत्येक परिस्थिति में सम्बद्ध रहा ही करता है। यदि यह सत्य है कि जहाँ जीव है वहाँ निश्चित रूप से उपयोग है तो यह भी एक तथ्य है कि उपयोग (ज्ञान) भी जीव के साथ ही रहता है, अन्यत्र कहीं नहीं। सामान्यतः आत्मा का यही प्रधान स्वरूप है। उपयोगमय ऐसे जीवों के दो भेद किये गये हैं—मुक्त और संसारी।

मुक्त जीव का लक्षण स्वभावोपयोगी है। आचार्य नेमिचन्द्र ने आत्मा के मुक्तरूप को ही (सिद्ध) कहा है। निर्जरा द्वारा कर्ममल का क्षय करके जीव सिद्ध गति प्राप्त करता है। इस कारण सर्वथा शुद्ध रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्धों में पाया जाता है, यही मुक्त आत्मा है। इसके वितरीत संसारी आत्मा में कर्ममल लिप्त रहता है। वादिदेव सूरि ने संसारी आत्मा के स्वरूप विवेचन में कथन किया है—

“चैतन्य स्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षात् भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रम् भिन्नः पौद्गलिकदृष्ट्वां-
श्चायम्।”

अर्थात्—आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, वह चैतन्यस्वरूप है, परिणामी है, कर्ता है, साक्षात् भोक्ता है, स्वदेहपरिमाण है—प्रत्येक शरीर में भिन्न है, पौद्गलिक कर्मों से युक्त है। संसारी आत्मा के उपर्युक्त स्वरूप विवेचन में वस्तुतः आत्मा के स्वरूपगत वे सारे लक्षण समाविष्ट हो जाते हैं, जिन्हें जैन आध्यात्मिक मान्यता प्राप्त है। जैन दर्शनान्तर्गत आत्मा के स्वरूप को हृदयगम करने के लिए यह विवेचन सर्वथा सहायक सिद्ध होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है—इसका तात्पर्य यह है शरीर आदि से पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व आत्मा का सहज लक्षण है। चार्वाक आदि कतिपय भौतिकतावादी विचारकों के मतानुसार आत्मा का स्वतन्त्र

अस्तित्व अमान्य है किन्तु जैनदर्शन उसी मान्यता का खण्डन करता है और भौतिक देह से भिन्न अपने मौलिक स्वरूप में आत्मा का होना मानता है। इस विषय में विस्तृत विवेचन इस अध्याय के पूर्वार्द्ध में किया जा चुका है, चर्चा इस बिन्दु पर भी की जा चुकी है कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वस्तुतः जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत आत्मागत इस लक्षण का भी विशिष्ट स्थान है। दार्शनिकों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो आत्मा के लक्षण के रूप में चैतन्य को नहीं मानता। चैतन्य का होना तो ये दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं किन्तु इसे वे आगन्तुक गुण मानते हैं, ऐसा गुण मानते हैं जो बाह्य है और बाहरी तत्त्व की भाँति ही आत्मा के साथ रहता है। जैसे घट एक पृथक् वस्तु है और अग्नि पृथक् है, घट जब तपाया जाता है तो वह गर्म होकर लाल रंग का हो जाता है ; यह ताप घट के साथ संयुक्त तो हो जाता है किन्तु अग्नि एक बाहरी वस्तु ही है, उसका संयोग अवश्य ही घट के साथ हो गया है। वैशेषिक दर्शन के विचारक इसी प्रकार चैतन्य को आत्मा के साथ संयुक्त किन्तु बाह्य आगन्तुक और औपाधिक गुण मानते हैं। इसके विपरीत जैन चिन्तन चैतन्य को आत्मा का सहज स्वरूप मानता है, बाह्य गुण नहीं मानता। यह चैतन्य ही तो वह गुण है जो आत्मा को अन्य जड़ पदार्थों से पृथक् स्वरूप देता है। वैशेषिक दर्शन से भिन्न जैन दर्शन चैतन्य को आत्मा का स्वाभाविक और आवश्यक गुण मानता है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, यदि यह न स्वीकार किया जाय तो इसका अभिप्राय यह भी होगा कि आत्मा का अस्तित्व चैतन्य के अभाव में भी सम्भव है जैसे—अग्नि के संयोग से रहित ठण्डा घट भी तो होता ही है ; किन्तु नहीं आत्मा के ऐसे स्वरूप की तो जैनाध्यात्म के अनुरूप कल्पना भी नहीं की जा सकती।

× × × × × × × × × × ×

× × × × × × × × × × ×

×
×
×
×

×
×
×
×

जागरह ! णरा णिच्चं जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुबति न सो सुवितो, जो जगति सो सया सुहितो ॥

—निशीथभाष्य ५६०३

मनुष्यो सदा जागते रहो, जागने वाले की बुद्धि सदा बढ़ती (उन्नतिशील) रहती है। जो सोता है, वह सुखी नहीं होता ; जागने वाला ही सदा सुखी होता है।

×
×
×
×
×

×
×
×
×

× × × × × × × × × × ×

× × × × × × × × × × ×

